Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
Available online at : www.gisrrj.com
OPEN ACCESS
© 2023 GISRRJ | Volume 6 | Issue 5 | ISSN : 2582-0095

भारत की उज्ज्वल ज्ञान परम्परा में गुरु–शिष्य सम्बन्ध की सार्थकता–तैत्तिरीयोपनिषद् के विशेष सन्दर्भ में

डॉ0 ऋचा
असिस्टेन्ट प्रोफेसर–संस्कृत, काशी नरेश राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, ज्ञानपुर, भदोही।

Article Info
Publication Issue :
September-October-2023
Volume 6, Issue 5
Page Number : 48-52
Article History
Received : 01 Sep 2023
Published : 29 Sep 2023

शोधसारांश– तैत्तिरोयोपनिषद् में शिक्षित मानव के दैनिक जीवन के लिए आवश्यक सार सूत्र समाहित है। सच्चा स्वाध्याय मनुष्य की जीवन यात्रा के लिए प्रकाश स्तम्भ का कार्य करता है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश के बाद उसके नवीन उत्तरदायित्व के निर्वहन पर भी स्नातक को जीवन के उदात्त आदर्शों के प्रति कृत संकल्प रहने तथा विषम परिस्थिति में भी आचार्य कुल में शिक्षित स्नातक अपने उत्कृष्ट आदर्शों का हित चिन्तन करते हुए स्वस्थ और सुन्दर जीवन के साथ ही समाज में ज्ञानार्जन में प्रयत्नशील रहते हुए हितचिन्तक की भूमिका का निर्वहन करने में समर्थ रहता है। प्रत्येक शिक्षित और प्रबुद्ध मनुष्य का कर्तव्य है कि वह समष्टि–दृष्टि और सर्वभूत–हित के आदर्शों के प्रकाश में वैयक्तिक जीवन का निर्वाह करे। 'विद्या ददाति विनयम्'' इस प्राचीन उक्ति के अनुसार विद्या के माधुर्य से समाज में शील और सदाचार की सृष्टि का संचार करते हुए विद्वानों के प्रति नम्रता और शिष्टता का आचरण करने हेतु कृत संकल्प रहें।

मुख्य शब्द–सार्थकता, उज्ज्वल ज्ञान, गुरु–शिष्य, स्वाध्याय, उत्कृष्ट आदर्श, प्रयत्नशील।

प्राचीन भारत में गुरु–शिष्य का संबंध आदर्शात्मक संबंध था। जो पिता–पुत्र की तरह था इसीलिए कहा गया था कि शिष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने गुरु को पितृतुल्य और मातृतुल्य मानते हुए उनकी आज्ञा का पालन करे तथा किसी भी अवस्था में उसके प्रति द्रोह न करे। प्राचीन काल में गुरु और शिष्य के बीच में केवल शाब्दिक ज्ञान का ही आदान–प्रदान नहीं होता था बल्कि गुरु अपने शिष्य के संरक्षक की भूमिका भी निभाता था। इसी कारण उसमें गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा और समर्पण भाव दृष्टिगोचर होता है। तत्कालीन समय में गुरु–शिष्य के संबंध का आधार था गुरु का ज्ञान, मौलिकता और नैतिक बल, उनका शिष्यों के प्रति स्नेहभाव, ज्ञान देने का निःस्वार्थ चिन्तनपरक भाव के साथ शिष्य में उत्तम गुणों का समाहार तथा गुरु के

Copyright: © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

प्रति पूर्ण श्रद्धा, गुरु की क्षमता में पूर्ण विश्वास तथा गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण एवं आज्ञाकारिता, अनुशासन शिष्य का अनिवार्य गुण माना गया है। ऐसा माना गया है कि वास्तविक शिक्षण तभी फलीभूत होता है जब शिष्य स्वयं को अनुशासित कर लेता है और गुरु की तरंग दैर्ध्य के अनुरूप हो जाता है।

औपनिषदिक चिन्तन में गुरु–शिष्य का पारस्परिक संबंध, उनकी प्रार्थनाएं, कर्त्तव्य, गुरु–शिष्य की जीवन चर्या, गुरुकुलों में पढ़ाये जाने वाले विषय इत्यादि का वर्णन किसी न किसी रूप में संपृक्त है। 'गुरुकुल' के स्थान पर 'आचार्यकुल' का प्रयोग ही प्राचीन उपनिषदों में समाहित है। 'आचार्यकुलवासी'[1] 'अन्तेवासी'[2] जैसे शब्दों के साथ–साथ 'ब्रह्मचर्यवास'[3] (अर्थात् गुरुकुल में ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर विद्या ग्रहण करो) आदि का चिन्तन उपनिषदों का अनिवार्य विषय रहा है। (तैत्तिरीयोपनिषद के समावर्तन संस्कार के अवसर पर आचार्य द्वारा अन्तेवासियों को दिया जाने वाला अनुशासनात्मक उपदेश सुप्रसिद्ध है– ''वेदमनूच्याचायोऽन्तेवासिनयनुशास्ति।''[4]) उपनिषदों में आजीवन आचार्य कुल में ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर विद्याध्ययन करने वालों का बहुत महत्त्व बतलाया गया है।[5] वहाँ बारह वर्ष का अध्ययन काल निध्रारित था और इस अवधि में ब्रह्मचारी शिष्य प्रायः सब वेदों का अध्ययन कर लेता था।[6] किसी भी 'गुरुकुल' का अस्तित्व और स्वरूप दोनों ही आचार्य के व्यक्तित्व निर्भर होते हैं इसीलिए उपनिषदों में कहा गया है– ''आचार्यवान् पुरुषों वेद''[7] अर्थात् अच्छे आचार्य के सम्पर्क में ही शिष्य सही मायने में ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसीलिए ''आचार्य देवो भव'' का भाव सन्निहित है अर्थात् हे शिष्य! तुम अपने आचार्य में देवत्व बुद्धि रखो ऐसे शब्दों से आचार्य के महत्त्व को स्थापित किया गया है। अतः आचार्य के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए अतएव निरुक्तकार यास्क ने आचार्य का लक्षण देते हुए आचार एवं संयम की शिक्षा देने वाले को आचार्य कहा है–

आचार्यः कस्मात् आचार्य आचारं ग्राहयति।
आचिनोत्यर्थान् आचिनोति बुद्धिमिति वा।।[8]

मनुस्मृतिकार आचार्य को व्याख्यापित करते हुए कहते हैं कि– ''जो विद्वान उपनयन–संस्कार द्वारा शिष्य को उसके पितृकुल से गुरुकुल ले जाकर कर्मकाण्ड और उपनिषद् रूपी ज्ञान के साथ ही वेदाध्ययन में प्रवीण करता है उसे आचार्य कहते हैं।[9] 'उपनयन' शब्द का मौलिक अर्थ है शिष्य को उसके माता–पिता के घर से गुरु द्वारा अपने कुल में ले जाना। अतएव उस समय के 'आचार्यकुल' को हम जगत की सबसे प्राचीन अन्तेवासि–विश्वविद्यालय की संज्ञा दे सकते हैं।

तैत्तिरीयोपनिषद् के प्रथम अध्याय शिक्षावल्ली के प्रथम अनुवाक में शान्ति और कल्याण की भावना से शिष्य उदात्त प्रार्थना करता हुआ कहता है कि समस्त आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक शक्तियों

के रूप में अधिष्ठातादेव सब प्रकार से हमारे लिए कल्याणमय हो, हमारी उन्नति और प्रगति का मार्ग प्रशस्त करें–

नमो ब्रह्मणे! नमस्ते वायो।

त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।

त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि।

ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि

तन्मामवतु! तद् वक्तारमवतु।

अवतु माम्। अवतु वक्तारम्।।[10]

यहाँ शारीरिक और मानसिक जीवन तथा स्वास्थ्य दोनों के लिए प्राणप्रद वायु की अनिवार्य आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया है। अतः वही हमारे लिए प्रत्यक्ष ब्रह्म है।[11] उसके सम्मुख शिष्य सत्य और ऋत के भाष्य की प्रतिज्ञा करता हुआ यह भी समझता है कि गुरु–शिष्य दोनों का वास्तविक परम कल्याण सत्य–भाषण और सत्याचरण में ही निहित है। वहीं तृतीय अनुवाक के प्रारम्भ में आचार्य का कथन है– ''सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्''[12] अर्थात् शिष्य और आचार्य हम दोनों को साथ–साथ यश की प्राप्ति हो! हम दोनों को साथ–साथ ज्ञान का प्रकाश प्राप्त हो। तदनन्तर चतुर्थ अनुवाक में जप और होम के लिए दी हुई प्रार्थना में आचार्य के हृदय का भाव मुक्त कंठ से रख दिया गया है–

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः।

छन्दोभेऽध्यमृतात् संबभूव

स मेन्द्रो मेघया स्पृणोतु।।

अमृतस्य देव धारणो भूयासम्।

शरीरं मे विचर्षणम्।

जिह्वा मे मधुमत्तमा।

कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्।

ब्राह्मणः कोशोऽसि। मेघा पिहितः।

श्रुतं मे गोपाय आवहन्ती वितन्वाना।

आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा

विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।

प्रमा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।

शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।

यथापः प्रवता यन्ति यथा भासा अंहर्जरम्।

एवं मां ब्रह्मचारिणो धातरान्तु सर्वतः स्वाहा।[13]

पहले मंत्र में आचार्य मुख्यतः अपने लिए स्वच्छ बुद्धि, स्वस्थ शरीर, भूरि–भूरि ज्ञान की प्राप्ति और उसकी रक्षा तथा पुष्टि की प्रार्थना करता है। अपने आचार्यत्व के पूर्ण निर्वाह के लिए इससे उत्कृष्टतर प्रार्थना और क्या हो सकती है? फिर दूसरे में आचार्य का हृदय दान्त, शान्त योग्य और प्रभविष्णु ब्रह्मचारियों के लिए अत्यन्त उत्सुक और आतुर है। वह चाहता है कि निर्बाध रूप से दिग–दिगन्त से लोग उसके पास आये और एकात्मभाव से उसके अन्तेवासी बनकर ज्ञानोपार्जन करें। आचार्य प्रार्थना करने के साथ ही उसको अपने आचार व्यवहार में उतारता था–सह नौ यशः। ''सह नौ ब्रह्मवर्चसम्'' अर्थात् हम दोनों साथ–साथ मिलकर यश और ज्ञान के प्रकाश दीप्त हो। आचार्य और शिष्य के इस एक समान आदर्श प्राप्ति के लिए पूरे मनोयोग से उनके हार्दिक मनोभावों से सहयोग की आवश्यकता थी। जो तभी संभव हो सकता था जब आचार्य के प्रति शिष्य का समर्पण शिष्य के प्रति आचार्य की स्नेह के साथ–साथ स्नेहसिक्त सम्मान का भाव भी निहित हो। यह भाव उपनिषदों में सर्वत्र विद्यमान है। यथा–नचिकेता के पिता उनको यमराज के पास भेजते हैं। यमराज घर पर नहीं हैं इसलिए तीन दिन तक नचिकेता उनके घर पर उनकी प्रतिज्ञा करते हैं। यमराज लौटने पर मान्य अतिथि के रूप में हार्दिक स्वागत कर तीन वर देते हैं और अध्यात्म विद्या का उपदेश करते हैं।

''सत्यमेव जयते नानृतम्।'' सत्य की ही विजय होती है अनृत की नहीं, यही उपनिषदों का मूल मन्त्र है।[14] सन्यान्वेषण और जिज्ञासामूलक प्रवृत्ति से उपनिषद् ओतप्रोत है। इसीलिए सत्य को उपनिषद विद्या का आयतन माना गया है।[15] तत्वज्ञान के विकासार्थ सत्य के प्रति बाहरी आस्था एवं जिज्ञासा की प्रवृत्ति का होना परमावश्यक है। अतः समस्त वेदों का तथा अन्य विद्याओं के अध्ययन करने के उपरान्त भी नारद तत्वज्ञान के लिए आचार्य सनत्कुमार का सानिध्य ग्रहण करते हैं और 'अन्तेवासी' बनकर तत्वज्ञान प्राप्त करते हैं।[16]

तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावली में बताया गया है कि जीवन के विभिन्न आदर्शों एवं कर्त्तव्यों के पालनार्थ आचार्य को अपने मुख्य कर्त्तव्य स्वाध्या और प्रवचन का विधिवत् पालन करना चाहिए।[17] प्रत्येक परिस्थिति में आचार्य के जीवन का मुख्य उद्देश्य स्वाध्याय अर्थात् अपने ज्ञान का नित्य नवीन विकास और प्रवचन (योग्य शिष्यों में उसका वितरण) होना चाहिए। इसके साथ–साथ उसके जीवन में सत्याचरण, सत्यभाषण, कष्ट–सहिष्णुता, संयम और चित्त की शान्ति का होना आवश्यक है। नहीं तो वह अपने उद्देश्य से भटक जायेगा। साथ ही धार्मिक, सामाजिक कृत्यों तथा गृहस्थ धर्म का भी पालन करना चाहिए। अतएव इन सब में समन्वय स्थापित करना बड़ा कठिन है परन्तु वास्तविक आचार्य के लिए इसकी अपरिहार्य आवश्यकता ही उसका सर्वस्व होना चाहिए। इसके अभाव में आचार्य की वह जीवन शक्ति क्षीण हो जाती है,

जिसके द्वारा वे विद्या का उसके समस्त सद्गुणों के साथ दूसरे के हृदय और मस्तिष्क में ज्ञान रूपी ज्योति को प्रज्वलित कर सकते हैं।[18] अन्यथा की स्थिति में उनकी स्थिति आग से झुलसे हुए उस बीज के तरह हो जाती है जिसका अन्तःसत्व नष्ट हो चुका है जिससे किसी नवीन अन्न की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसीलिए अकामहत विद्वान की महत्ता की महिमा का गान उपनिषदों में हुआ है– ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः स एकः पितृणां चिरलोकेलोकानामानन्दः। श्रोतियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दाः। स एक आजानजानां देवानामानन्दः। इसका तात्पर्य है कि आदर्श विद्वान और आचार्य को एकनिष्ठ भाव से स्वाध्याय और प्रवचन का पालन करना चाहिए। वह इसी प्रकार जीवन की कृतकृत्यता तथा परम आनन्द की अनुभूति कर सकता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि निश्चय ही वर्तमान शैक्षिक परिप्रेक्ष्य में शिक्षण संस्थाओं की आज की संकटमयी परिस्थिति का बहुत कुछ समाधान इसी महान आदर्श के अनुसरण में निहित है।

अपने मातृ–पितृ कुल से आचार्य कुल में जाकर शिष्य आचार्य में पितृ बुद्धि और आचार्य पत्नी में मातृ–बुद्धि का भाव रखते थे। गुरु–शिष्य के पारस्परिक स्नेहमय सम्बन्ध का प्रतिपादन करते हुए निरुक्त में कहा गया है– ''तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह।।''[19] मनुस्मृति में इसको स्पष्ट करते हुए कहा गया कि द्विज बालक के दो जन्म होते हैं। इसी से उसे द्विज कहा जाता है। प्रथम जन्म माता के गर्भ से होता है और द्वितीय उपनयन संस्कार के समय होता है। जो ब्रह्म अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के लिए होता है और इस जन्म में उसकी माता गायत्री (मन्त्र) होती है और पिता आचार्य होता है।[20] जैसा कि प्रश्नोपनिषद् में सुकेशा भारद्वाज आदि छः जिज्ञासु अपने प्रश्नों का समाधान हो जाने पर आचार्य पिप्पलाद से कहते हैं– ''ते तमर्चन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति।''[21] छान्दोग्योपनिषद में आचार्य सत्यकाम जाबाल बारह वर्ष तक अनुशासनपूर्वक आचार्य कुल में रहते हैं परन्तु आचार्य उनका समावर्तन संस्कार नहीं करते तब आचार्य पत्नी अन्तेवासी की ओर से अनुनय पूर्वक कहती हैं– ''तं जायोवाच तप्तो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन् परिचचारीत्। मा त्वाग्नयः परिप्रवोचन्। प्रबूह्यस्य इति।[22] अन्तेवासियों को आचार्य कुल में पूर्णतया घर जैसा ही स्नेहमय वातावरण मिलता था। आचार्य के लिए उसका पुत्र और अन्तेवासी एक ही कोटि में होते थे।[23] शिष्य और आचार्य के परस्पर सहभाव से अध्ययनाध्यापन में की जाने वाली उनकी प्रार्थना मंत्रमुग्ध कर देने योग्य है–

सह नानवतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।

तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।[24]

उत्कृष्ट भावों से परिपूर्ण आचार्य की प्रार्थना है कि परमात्मा हम दानों की साथ–साथ रक्षा करें। साथ–साथ अनुग्रह करें। हमारे उद्यमों और प्रयत्नों में एकचित्तता हो। हमारा अध्ययन हममें तेजस्वी जीवन का संचार करे। हममें परस्पर द्रोहबुद्धि कभी न हो।

अथर्ववेद और महाभारत में भी कहा गया है कि आचार्य अन्तेवासी को गर्भवत् धारण करता है।[25] इसका अभिप्राय है कि आर्चा अपने अन्तेवासी का शारीरिक दृष्टि से ही पालन–पोषण नहीं करता अपितु बौद्धिक, आध्यात्मिक और चारित्रिक दृष्टि से भी उसके सूक्ष्म शरीर का भी पोषण उसी तन्मयता से करता है जैसे माता अपने गर्भ की सब प्रकार से सुरक्षा और पोषण करती है। इसीलिए वह शिष्य को उपदेश देते हुए तैत्तिरीयोपनिषद् में कहता है– ''यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।''[26] अर्थात् जो हमारे सुचरित हैं केवल उन्हीं का तुम्हें सेवन करना चाहिए। हमारे दूसरे आचरण का नहीं। कैसा उच्च आदर्श आचार्य के इस उपदेश में निहित है। निरुक्त में शिष्य की योग्यता का उत्तम प्रवचन देखा जा सकता है– ''ननु प्रसन्नाय अनिदविदे वा। नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया। उपसन्नाय तु निर्ब्रूयात। यो बालं विज्ञावुं स्यात्। मेधाविने तपस्विने वा।।[27] अर्थात् जो नम्रता के साथ उपस्थित नहीं होता, जो अपने विशिष्ट विषय के महत्त्व को नहीं समझता ऐसे शिष्य को नहीं ग्रहण करना चाहिए क्योंकि जो अप्रबुद्ध है उसके मन में ज्ञान के प्रति अनास्था ही होती है इसीलिए यह सिद्धान्त समाविष्ट किया गया है कि जो विनीत भाव से उपस्थित होकर विद्या ग्रहण करने की योग्यता से सम्पन्न और बुद्धिमान होने के साथ स्पष्ट सहिष्णु और परिश्रमी भी है उसी को विद्यादान करने का विधान शास्त्रों में विहित है। इसी प्रकार कठोपनिषद् में[28] नचिकेतस यम के पास पहुँचकर अध्यात्म विद्या को ग्रहण करने के निमित्त वर माँगता है तब यम उपदेश देने के पहले उसके सामने अनेकानेक प्रलोभनों को रखकर उसे उस जिज्ञासा से विरत करने का भरसक प्रयास करते हैं। अन्त में सभी प्रकार से परीक्षा में पास होने के अनन्तर ही उसको अध्यात्म विद्या का पात्र समझकर उपदेश देते हैं।

उपनिषदकाल में दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि आचार्य द्वारा 'अन्तेवासी' के चयन में जातीय–भेद–भावना का कलुषित वातावरण नहीं दिखायी देता और यदि कहीं है भी तो वह गौणरूप में ही दिखाई देता है। वास्तविक व्यवहार में उसका विशेष महत्त्व नहीं है। शिष्य की योग्यता और आचरण पर विशेष धन दिया जाता था। अनुशासन ही सर्वोत्तम कसौटी मानी जाती थी। जिसमें ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करने वाला ही तेजोमय ब्रह्म को धारण करने का उत्तम अधिकारी माना गया है।[29] समिधा और मेखला द्वारा अपने व्रतों को धारण करता हुआ ब्रह्मचारी श्रम और तप के प्रभाव से समस्त लोकों को समुन्नत करता है।[30] ब्रह्मचर्य का मौलिक अर्थ ब्रह्म अर्थात् वेद (ज्ञान) को प्राप्त करना है– ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।'[31] उपनिषत्काल में आचार्य कुल के 'अन्तेवासियों' के लिए ब्रह्मर्च व्रत अनिवार्य था। अतएव अन्तेवासी का दूसरा नाम ब्रह्मचारी था। उपनिषदों में भी ब्रह्मचर्य का महत्त्व वर्णित है।[32] आचार्य कुल के तपोमय व्रत के पालनार्थ गुरुकुल में

अन्तेवासियों के संयम का जीवन नितरां आवश्यक था। संयम और तप का अभिप्राय शारीरिक कष्ट सहिष्णुता से ही न होकर मानव जीवन के सब प्रकार के प्रलोभनों से दूर रहते हुए आदर्श मार्ग का अनुसरण करना से है। इसीलिए तैत्तिरीय–आरण्यक में कहा गया है कि–

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तो तपो दपस्तपः।

शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भूवः सुर्वब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः।।[33]

तैत्तिरी उपनिषद् के शिक्षावल्ली के अन्त में दिया गया उपदेश निश्चय ही समस्त उपनिषदों के उत्कृष्ट उपदेशों में एक है। भारत का प्राचीन ज्ञान परम्परा के अनुसार यथाविधि वेदाध्ययन करके आचार्य कुल से लौटकर अपने घर आने वाला ब्रह्मचारी विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। आचार्य के समावर्तन उपदेश का महत्त्व कई दृष्टियों से सम्यक् प्रतीत होता है। स्वभावतः यह आकांक्षा होती है कि गुरुकुल से लौटने पर स्नातक अपने लौकिक जीवन में प्रवेश करने के अनन्तर किस तरह व्यतीत करता था? उसे जीवन के मुख्य आदर्श क्या होते थे? विद्या वयोवृद्धों के साथ उसका व्यवहार कैसा होता था? अपनी तपश्चर्या में वह कहाँ तक समाज के हित–चिन्तन का ध्यान रखता था? जिसका समाधान हमें समावर्तन उपदेश में सहज ही मिल जाता है। वर्तमान शैक्षिक परिप्रेक्ष्य में भारतीय विश्वविद्यालयों और अन्य शिक्षण संस्थाओं के दीक्षान्त समारोहों के अवसर पर दीक्षान्त–भाषण में इस प्रसंग को प्रायः उद्धृत किया जाने लगा है वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिन मनुशस्ति सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यामन्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदिवव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्याम् न प्रमरितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्स्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि। ये के यास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः तेषां त्वयसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रङ्घयाऽदेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भियाऽदेयम्। संविदा देयम्। अथ यादि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनो युक्ता आयुक्ता अलूक्षां धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्तेरन तथा तत्र वर्तेयाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनो युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते वेषु वर्तेरन् तथा तेषु वर्तेयाः। एष आदेश। एव उपदेशः। एषा वेदोपनिषद्। तदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्।।[34]

तैत्तिरोयोपनिषद् में शिक्षित मानव के दैनिक जीवन के लिए आवश्यक सार सूत्र समाहित है। सच्चा स्वाध्याय मनुष्य की जीवन यात्रा के लिए प्रकाश स्तम्भ का कार्य करता है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश के बाद उसके नवीन उत्तरदायित्व के निर्वहन पर भी स्नातक को जीवन के उदात्त आदर्शों के प्रति कृत संकल्प रहने तथा विषम परिस्थिति में भी आचार्य कुल में शिक्षित स्नातक अपने उत्कृष्ट आदर्शों का हित चिन्तन करते हुए

स्वस्थ और सुन्दर जीवन के साथ ही समाज में ज्ञानार्जन में प्रयत्नशील रहते हुए हितचिन्तक की भूमिका का निर्वहन करने में समर्थ रहता है। प्रत्येक शिक्षित और प्रबुद्ध मनुष्य का कर्तव्य है कि वह समष्टि–दृष्टि और सर्वभूत–हित के आदर्शों के प्रकाश में वैयक्तिक जीवन का निर्वाह करे। 'विद्या ददाति विनयम्'' इस प्राचीन उक्ति के अनुसार विद्या के माधुर्य से समाज में शील और सदाचार की सृष्टि का संचार करते हुए विद्वानों के प्रति नम्रता और शिष्टता का आचरण करने हेतु कृत संकल्प रहें।

सन्दर्भ–

1. छा0उ0–2 / 23 / 1
2. तैत्ति0उ0–1 / 3 / 1
3. छा0उ0–6 / 1 / 1
4. तैत्ति0उ0–1 / 11 / 1
5. छा0उ0–2 / 23 / 1
6. छा0उ0–4 / 10 / 1
7. छा0उ0–6 / 14 / 2
8. निरुक्त–1 / 4
8. मनुस्मृति–2 / 140
10. तै0उ0–1 / 1 / 1
11. प्रश्नो0–2 / 6
12. तै0उ0–1 / 1 / 3
13. तै0उ0–1 / 1 / 4
14. मु0उ0–3 / 1 / 6
15. केनोपनिषद–4 / 8
16. छा0उ0–7 / 1 / 1–5
17. तै0उ0–1 / 9 / 1
18. मनुस्मृति–2 / 170
19. निरुक्त–2 / 4
20. मनुस्मृति–2 / 169–170
21. प्र0उ0–6 / 8
22. छा0उ0–4 / 10 / 2

23. बृ0उ0–6/3/12
24. तै0उ0–शान्तिपाठ
25. अथर्ववेद (11/5/3), महाभारत–उद्योगपर्व–44/6
26. तै0उ0–1/11/2–3
27. निरुक्त–2/3
28. कठोपनिषद्–1/1/20–29
29. अथर्ववेद–11/5/24
30. अथर्ववेद'–11/5/4
31. तै0उ0–2/1
32. छा0उ0–2/23/1, 8/5/1–4, प्रश्नोपनिषद्–1/15, 5/3
33. तै0आ0–10/8
34. तै0उ0–1/11